काव्य १०

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः॥

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिए यह उसकी धूल।
शम्भु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (भवता एव) आपके द्वारा ही (स्मरः) काम (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है। (यदि नाम शम्भुः) यदि कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धूलितात्मा) कलङ्कित हो गया था और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः सन्) वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित होकर उसके साथ (अशेत) शयन किया था, (येन) लेकिन (भवान् अजाग) आप जागृत रहे हो अर्थात् कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए, इसलिए (किं गृह्यते) कामदेव के द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ — हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं है क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत होकर तरह-तरह की काम चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा से आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका।

काव्य -१० पर प्रवचन

यह एक विषापहार नाम का स्तोत्र भगवान की स्तुति है । वास्तव में तो अन्दर आत्मभगवान की स्तुति गायी है। अन्दर विष-अपहार। विष अर्थात् मिथ्यात्व का जहर, उसका नाश होकर राग-द्वेष-मोह का सर्वथा नाश होकर आत्मा की वीतरागता सम्यक् आचरणपूर्वक वीतरागदशा प्रगट हो, उसका यह स्तोत्र है। सेठी!

नौवीं गाथा में आया। हे नाथ! विद्यमान विषय के सुख प्राप्त, उन्हें छोड़कर, अविद्यमान ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के सुख के आप अभिलाषी हुए। अर्थात् अनन्त आनन्द जो आत्मा में था, उसे आपने प्रगट किया। ऐसा मुझे विश्वास आता है। देखो! यह देव की पहिचान करे, वह अपनी पहिचान करता है, ऐसा यहाँ चलता है। आपने संसार के सुख की इच्छा की झाँख भी नहीं की। मिलने पर भी छोड़े। और भगवान आत्मा का आनन्द तो अव्यक्त है। बाह्य देखने में नहीं आता, उसे आपने प्रगट किया। अनन्त आनन्दस्वरूप प्रभु में से प्रगट करके अतीन्द्रिय आनन्द के स्वरूप में एकाकार हुए। प्रभु! आप ही पुरुषोत्तम पुरुष हो। ऐसा कहकर नौवें में विरोधाभास अलंकार की दो-तीन बातें कीं।

दसवीं।

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः॥

इसका हिन्दी।

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिए यह उसकी धूल।
शम्भु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम॥

भक्तामर में भी आता है न एक स्तुति में। हे भगवान! '**मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा**'। मैंने दूसरे अन्य देवों को पहले से देख लिया। आपके स्वरूप का भान होने पर अब उसकी हमें कोई इच्छा नहीं रही। पहले अच्छा हुआ कि सब देख लिये। '**हरिहरादय एव दृष्टा**' कहा है न उसमें? परन्तु तुम्हें देखने पर यह बात कहीं अन्यत्र नहीं है। देखो! यह देव की पहिचान भी अनन्त काल में नहीं की। बड़ा विवाद अभी यह इसका अभी उठा है, लो! देव का ही उठा। देवशक्ति।

अहो सर्वज्ञपद! हे भगवान! सर्वज्ञपद तेरी चीज़। श्रीमद् ने कहा है न? हे भगवान! मैं भूल गया। तुम्हारे कहे हुए तत्त्वों का मैंने विचार किया नहीं। तुम्हारे कहे हुए एक सेकेण्ड असंख्य भाग में अहो! जिसकी पूर्ण सम्पदा फलकर फूल गयी है। पूर्णानन्द के साथ सर्वज्ञपद। ऐसे पद की जिसे अन्तर में रागरहित, निमित्तरहित ऐसी पूर्ण पदवी (प्रगट हुई)। अहो! आत्मा की मूल चीज़ ही यह है। आचार्य तो कहते हैं न प्रवचनसार में? कि अरे! ज्ञान की पूर्णता में पूर्ण न ज्ञात हो तो वह दिव्यज्ञान किसका? समझ में आया?

हे भगवान! आपका अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्णानन्द ज्ञान, वह ज्ञान! तीन काल-तीन लोक को, समय, समय, समय का भाव पकड़कर जाने। भेद '**सर्वभावांतरच्छिदे**'। यह पहले ही कलश में कहा था। '**सर्वभावांतर**'। अपना स्वभाव और दूसरे सबको प्रभु! यह ज्ञान न देखे, ज्ञान न जाने, अनन्त पदार्थ को ज्ञान एक समय में न पहुँचे और ज्ञेय उसे एक समय में अपना पूरा स्वरूप क्या है, उसे अर्पित न करे, तो प्रभु! वह ज्ञान किसे कहना? समझ में आया? इस सर्वज्ञपद का ही बड़ा विवाद उठा। वाडीभाई! एक समय में केवलज्ञानी प्रभु, आहाहा! उनकी आज्ञा के बाहर, तीन काल-तीन लोक में कुछ नहीं होता। उनके कारण से नहीं, परन्तु जो उन्होंने देखा, उससे बाहर कुछ नहीं होता। ऐसा सर्वज्ञपद जिसके ज्ञान में, हृदय में, भाव में बैठा, उसे सर्वज्ञ को जो पद मिला, उस पद की प्राप्ति का वह अभिलाषी, उस पद को अल्प काल में प्राप्त करेगा। समझ में आया? परन्तु यह पहिचान कहनेमात्र नहीं, उसके ज्ञान में यह बात बैठनी चाहिए। तब उसे....

प्रवचनसार में भी कहा न पहले? प्रभु! मैं वन्दन करनेवाला कौन? और आप

वन्द्य कौन? दोनों का मुझे भान है। पहले में नहीं? शुरुआत में। मैं कौन? मैं कौन? प्रभु! मैं तो ज्ञानदर्शन सम्पन्न ऐसा आत्मा। आप कौन? कि आप पूर्ण पर्याय को ज्ञान, दर्शन और आनन्द की प्राप्ति ऐसे आप पूर्ण। वे आप वन्द्य हो और मैं हूँ आपका वन्दक। मैं पहिचानकर कहता हूँ, प्रभु! ऐसा का ऐसा बिना भान के यह भगवान अरिहन्त है और यह ज्ञानी है और पूर्ण ज्ञानी है, ऐसा नहीं। मेरे ख्याल में बात आयी है। मैं जब ज्ञान-दर्शन सम्पन्न ऐसा मैं। मैं अर्थात् आत्मा अर्थात् ज्ञान-दर्शन सम्पन्न। ऐसे भानवाला और उसमें स्थिरतावाला ऐसा मैं आत्मा। इतनी दशा में मेरा ज्ञान-दर्शन इतना उघड़ा है। तो प्रभु आपकी दशा पूर्ण उघड़ी है, ऐसे मुझसे शक्ति से अधिक, पर्याय में शक्ति से अधिक और ऐसे ज्ञान के माहात्म्य के कारण, ऐसे ज्ञान की प्राप्ति के कारण, प्रभु! मैं आपको वन्दन करता हूँ। समझ में आया? ऐसा देव प्रभु! तेरे जैसा जगत में दूसरा कोई देव देखा नहीं। कहते हैं। लो!

हे प्रभु! आपके द्वारा ही काम अच्छी तरह भस्म किया गया है। क्या कहते हैं? काम अर्थात् इच्छा। यह आयी है न गाथा उसमें? श्रुत परिचित अनुभूता काम-भोग की कथा। वह काम की वार्ता आपने नष्ट कर दी है। वार्ता अर्थात् भाव। समझ में आया? इच्छा का कर्तृत्व मात्र, इच्छा का भोक्तृत्व मात्र आपने नष्ट कर दिया है। और आप वीतराग विज्ञानघन की दशा को प्राप्त हुए हैं। वह **अच्छी तरह भस्म किया गया है। यदि कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था....** अन्य में आता है न? उसे महादेव कहते हैं न? महादेव। भगवान भी महा दिव्य शक्ति के धनी महादेव और वह भी महादेव। तो कहते हैं कि **वह कहना ठीक नहीं,....** प्रभु! आपने भस्म की, उसकी उसने राख लपेटी है। समझ में आया?

महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह उस काम के विषय में कलंकित हो गया था.... आपने भस्म किया। उसमें यह कहते हैं कि वह राख लपेटते हैं न, उस काम को जला दिया था। यह उसकी राख लपेटी है। भगवान ने जलाया था, उसकी राख महादेव ने लपेटी है। प्रभु! तू महादेव! आहाहा! पूर्णानन्द की प्राप्ति द्वारा कामविजय हो गये। आपने काम को विजय किया है। अनादि

काल का काम जो अहंकार में चढ़ा कि बड़े-बड़े मानधाताओं को मैंने गिराया है। उसे आपने विजय किया, प्रभु! मैं पहिचानकर आपकी भक्ति करता हूँ।

कहते हैं कि वह **काम के विषय में कलङ्कित हो गया था और विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित होकर....** लक्ष्मी के साथ की बात आती है न। **शयन किया था....** नहीं? समुद्र में आता है न? शेषनाग में सोते हैं और लक्ष्मी पैर दबाती है। आता है या नहीं? कहते हैं कि प्रभु! वह भी परिग्रहवन्त है। वृन्दा अर्थात् लक्ष्मी अथवा वृन्दा अर्थात् परिग्रह। नीचे है भाई। ***'वृन्द—स्त्री, पुत्रादि समस्त परिग्रह समूह से पीड़ित।'*** स्त्री थी, सब था उन्हें। प्रभु! वह परिग्रहवाला था। वह विष्णु भले नाम धरावे परन्तु व्यापक सर्वज्ञपद उनके पास नहीं था। प्रभु! वह महादेव? कि वह महादेव नहीं। तुम महादेव। उन्होंने काम को जीता? कहते हैं, नहीं, नहीं; वह भी पत्नीवश हो गये। आप तो कामदेव को जीतकर कामदेव फिर न फाव्यो, इसलिए आप पर पुष्पवृष्टि की। समझ में आया? उसने फूल बरसाये कि हे नाथ! पूर्णानन्द की प्राप्ति जगत में काम को नहीं जीता उसे आपने पूर्ण जीता है। और पूर्णानन्द की प्राप्ति में आप मौज मनाते हो।

ऐसे वृन्दा। विष्णु को भी बाह्य परिग्रह का वृन्द अर्थात् समूह है। प्रभु! आप तो परिग्रहरहित हो। एक विकल्प का परिग्रह नहीं। ऐसी आपकी निर्ग्रन्थदशा है। उसमें निर्ग्रन्थपना बतलाना है। निर्ग्रन्थदशा। आहाहा! निर्ग्रन्थ तो छठवें गुणस्थान से होता है परन्तु अभी विकल्प का अंश जरा बाकी है। परन्तु आप तो प्रभु पूर्ण निर्ग्रन्थ हो, (उसका) हमें भरोसा हो गया है। आपने एक विकल्पमात्र दुनिया का अच्छा करूँ या बुरा हो, न हो, ऐसी इच्छा ही आपको नहीं है। आपका सर्वज्ञपद यह पड़ा है। समझ में आया?

एक स्तुति में आता है न? अपने नहीं? ऐसा कहीं आता है। आपने मार्ग कहा परन्तु शासन का फल कैसे आयेगा, यह आपने देखा नहीं। 'स्वयंभू स्तोत्र' में आता है। क्या कहलाता है वह? 'समन्तभद्र' 'समन्तभद्राचार्य'। हे नाथ! आपकी वाणी निकली, ऐसा कहकर कहते हैं कि आपको इच्छा नहीं थी। मूल तो ऐसा कहना है। इच्छा बिना वाणी निकली। मोक्षमार्ग प्रपात गिरा। लोग समझे। परन्तु उसमें कौन समझे और कितने प्राप्त हुए, यह आपने नहीं देखा। अर्थात् यह इच्छा नहीं की। ज्ञान में आ गया है कि इतने

ऐसे समझेंगे और इतने नहीं समझेंगे। परन्तु आपने इच्छा नहीं की। इतना उपदेश....

एक दिन में चौबीस घड़ी। छह घड़ी सवेरे, छह घड़ी दोपहर में, छह घड़ी सायंकाल और छह घड़ी रात्रि में। चौबीस घड़ी का उपदेश आपका दिन और रात्रि (में आया)। रात्रि में भी एक बार कहने में आता है। तथापि उसका फल कैसे आया? आप तो ज्ञातादृष्टा हो। वीतराग हो। फल आकर सन्तोष नहीं। न समझे उसके प्रति आपको द्वेष नहीं। इसलिए आप ही वास्तविक देव और सर्वज्ञ हो। ऐसे सर्वज्ञ का मैं भक्त और दास हूँ। दूसरे देव का मैं दास नहीं हूँ।

'भवान्' आप जागृत रहे हो.... आप जागृत रहे। **कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए....** कामनिद्रा से अचेत। अचेत अर्थात् भान बिना के हुए, ऐसा हुआ नहीं। **कामदेव के द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् कोई भी नहीं।** काम ही—इच्छा ही आपको नहीं होती।

भावार्थ — हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने.... देखो! जगतविजय काम। पूरी दुनिया को जिसने विजय किया है। शास्त्र में आता है न भाई! अपने नहीं? समयसार में। आस्रव को अहंकार हुआ है। कलश में (आता है)। अमृतचन्द्राचार्य (कृत कलश)। आस्रव—पुण्य और पाप के विकल्प को, आस्रव को अहंकार (हुआ है) कि मुझसे कोई जीते नहीं। मैंने सबको हरा दिये हैं। बड़े-बड़े मानधाता। नौवें ग्रैवेयक में गया तो भी आस्रव में लाभ है, ऐसी मान्यता करके मैंने उसे हरा दिया है। समझ में आया? उसे वापस संवर ने उड़ाया। अनादि काल का बड़ा योद्धा, नौवें ग्रैवेयक में गया, ऐसा दिगम्बर साधु, परन्तु अन्त में अन्तर में आस्रव में रुक गया। इच्छा के विकल्प की वृत्ति मुझे हितकर है, वह लाभदायक है, उसमें रुका। प्रभु! परन्तु संवर ने उसे जीत लिया। समझ में आया? वह संवर प्रभु! आपने बताया हुआ है। संवर और निर्जरा ऐसा जो मोक्ष का मार्ग आपने बतलाया तो आप अत्यन्त निर्ग्रन्थ हो और दूसरे को निर्ग्रन्थ कराने का आपका उपदेश है।

लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं है क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था

और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत होकर तरह-तरह की काम चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा से आत्मव्रत में लीन रहे.... आत्मा में लपेट होकर वीतरागपने में लीन रहे। यह मैंने बराबर जाना है कि आप सर्वज्ञ और वीतराग हो। समझ में आया?

तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका। पनप नहीं सका। क्या है? उठ नहीं सका। पछाड़ मारा कि उठ नहीं सका। श्रीकृष्ण ने किया था न जैसे उसे—किसे? जरासंघ के सामने वह उसका दामाद। कंस-कंस। कंस को ऐसे चोटी पकड़कर पछाड़ा। मार पछाड़ ऐसे करके एकदम। इसी प्रकार हे भगवान! इसे पछाड़ा है। आता है न। पहले तो उनका रूप तो साधारण था न अभी तो। ग्वाले के यहाँ लालन-पालन हुआ था। लंगोटी-बंगोटी बराबर कपड़े पहने थे। उनके सब कुटुम्बी इकट्ठे हुए। क्या होगा? जोर करके उसको पकड़कर.... कृष्ण है न। कर्म कृषे सो कृष्ण कहिये। विकार के भाव को कसकर नाश करे, उसे कृष्ण कहा जाता है। हे भगवान! आप ही कृष्ण हो। वास्तविक केवलज्ञान पाकर विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक आप प्रगट हुए हो। यह विष्णु सर्वव्यापक कहते हैं, परन्तु परिग्रह में पकड़ गये हैं, ऐसा कहते हैं। परिग्रह में पकड़ाकर ज्ञान की पूर्ण दशा उसने प्रगट नहीं की। यह दसवीं गाथा (हुई)।

काव्य ११

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥

और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥
जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बड़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कही बढ़ जाती है॥

अन्वयार्थ — (वा) अथवा (देव) हे देव! (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पापरहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् स्यात्) पापसहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषों के वर्णन करनेमात्र से ही (ते) आपका (गुणित्वम् न) गुणीपना नहीं है। (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभाव से ही होती है; (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है' — इस तरह तालाब आदि की निन्दा करने से नहीं होती।

भावार्थ — हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। सरोवर को छोटा कह देनेमात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है; इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है॥ ११॥

काव्य - ११ पर प्रवचन

ग्यारहवीं।

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥

एक तो सामने भगवान खड़े हैं और कन्धा पकड़कर स्तुति करते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भाई कहते हैं न? क्या कहलाता है? समन्तभद्राचार्य! मानों गिरी-गुफा में से ऐसे निकले हों, भगवान को (कहते हैं), खड़े रहो, प्रभु! मैं तुम्हें पहिचानकर स्तुति करनेवाला हूँ। दूसरे की तरह अन्ध और अनजान मैं स्तुति करनेवाला नहीं। ऐसे कन्धा पकड़कर खड़े रखा है। भक्ति का उछाला है न। उल्लास... उल्लास। उसी प्रकार यहाँ मानो, हे प्रभु!

और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥

जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बड़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कही बढ़ जाती है॥

भो देव! हे प्रभु! **वह ब्रह्मादि देवों का समूह पापरहित हो....** पापरहित हो **और दूसरा देव पापसहित हो,....** कोई पापरहित हो और कोई पापसहित हो। **इस तरह उनके दोषों के वर्णन करनेमात्र से ही आपका गुणीसहितता नहीं है।** दूसरे की अपेक्षा रखकर आपकी गुणसहितता नहीं है। समझ में आया? पहले श्लोक में ऐसा लिया। प्रभु! हे चेतनप्रभु! काम की बात। यह तेरी जिसने अन्तर्दृष्टि की, उसे इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। जिसने चिदानन्द भगवान आत्मा पर दृष्टि की, (उसे) इच्छा ही नहीं होती, इच्छा ही नहीं होती। ऐसे इच्छा का नाश करनेवाले हे भगवान! चिदानन्द सामान्य चैतन्यप्रभु, वह तुझमें ताकत (रही हुई है)। ऐसी ताकत दूसरे में पर्याय में भी है नहीं। इच्छा का नाश करके। पूर्णानन्द की दृष्टि चैतन्यप्रभु की की, ऐसी ताकत कि चौरासी लाख के भव के कारण को जलाकर भस्म करने की ताकत प्रभु चैतन्य महाप्रभु में है। चैतन्य महाप्रभु अर्थात् ध्रुव! ध्रुव धातु। ज्ञायकभाव में वह ताकत है। इसलिए उसने काम को जीता और काम को जीतने की ताकत द्रव्यस्वभाव में है।

अज्ञानी, जिसकी पर्यायदृष्टि है, जिसकी रागदृष्टि है, जिसकी विकल्प पर दृष्टि है, वह सब हम कुछ देवपना करके आगे बढ़ना चाहते हैं, ऐसा कहते हैं, परन्तु प्रभु! यह दिव्य शक्ति को प्राप्त करनेवाले नहीं हैं। चौरासी लाख में भटकनेवाले हैं।

यहाँ यह कहा, प्रभु! दूसरे के गुण-दोष देखकर आपकी स्तुति करना, आपको उसके साथ तुलना में रखना कि इनके दोष हैं और इन दोषरहित कोई कितने ही हैं, ऐसा करके आपकी महिमा करना, वह **आपका गुणीपना सिद्ध नहीं....** (करता)। वह आपके गुण का मान नहीं है। वह तो सहज स्वभाव से आपके गुण माहात्म्य गा रहे हैं। हे देव! **समुद्र की महिमा स्वभाव से ही होती है;....** समुद्र की महिमा, वह तालाब से बड़ा है, वह कुएँ से बड़ा है, वह सरोवर से बड़ा समुद्र है, इस समुद्र से कोई कुँआ, तालाब बड़ा नहीं हो सकता। वे सब छोटे हैं। इसलिए समुद्र की महिमा नहीं है। समझ में आया? समुद्र की महिमा समुद्र के सहज स्वभाव से है। इसी प्रकार हे नाथ! दूसरे

देव के दोष-गुण को तोलकर आपके गुण का बहुमान करना, इस प्रकार वस्तु के स्वभाव में नहीं है। अचिन्त्य गुण का निधान आपने प्रगट किया है, वह सहज स्वभाव की ही महिमा आपमें है। दूसरे के साथ मिलानकर महिमा करना, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। समझ में आया?

'यह छोटा है'—इस तरह तालाब आदि की निन्दा करने से नहीं होती। समुद्र की महिमा। तालाब छोटा, कुँआ छोटा, यह गड्डा छोटा, समुद्र बड़ा—ऐसी महिमा नहीं है। वह तो समुद्र सहज स्वभाव से उछलकर भर रहा है और ज्वार जिसकी पर्याय में आता है अर्थात् किनारे। उसी प्रकार भगवान तेरी महिमा सर्वज्ञस्वभाव से भरपूर तू, पर्याय में ज्वार चला ही आता है। सहज स्वभाव से तेरी महिमा है। दूसरे के साथ मिलान करके और महिमा गायें, ऐसा तेरे साथ मिलान खाये ऐसा नहीं है। समझ में आया? देखो! यह देव की भक्ति के भक्त! भक्तराज। भक्त में राज अर्थात् शोभावन्त। सम्यग्दृष्टि भगवान के वास्तविक भक्त हैं। दूसरे कोई वास्तविक भक्त नहीं हैं। कोई वास्तव में हो नहीं सकते। ग्यारह हुई न?

भावार्थ :- हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते.... कहाँ गुण की बेहदता! आहाहा! एक-एक पर्याय परिपूर्ण। अनन्त-अनन्त जिसकी महिमा। प्रभु! उसकी महिमा तो सहज स्वभाव से है। वह तो गुण का परिणमन सहज स्वभाव हुआ, उसमें उसका है। पर के कारण उसकी अपेक्षा दी नहीं जा सकती। वह निरपेक्ष बताते हैं यह। लो! देवीलालजी कहते हैं, सापेक्ष चलता है सर्वत्र, सापेक्ष चलता है। और यहाँ तुम निरपेक्ष... निरपेक्ष कहते हो। यहाँ तो कहते हैं, दूसरे के दोष से या दोष के टालने से उसकी उपमा (महिमा नहीं है)। वह तो सहज निरपेक्ष भगवान सर्वज्ञ परमात्मा निरपेक्ष से शोभ रहे हैं। दूसरे की अपेक्षा रखकर उनका बहुमान हो, ऐसा है नहीं। सहज निर्मलानन्द प्रभु निरपेक्ष है। विकार भी जहाँ पर की अपेक्षा बिना निश्चय से होता है, उसे भी जहाँ पर की अपेक्षा नहीं। तो निर्मलानन्द प्रभु परमात्मदशा निर्मल निर्मल। उस पर्याय का कारण और कार्य पर्याय में। उस पर्याय का कार्य और कारण पर्याय में। ऐसी उसकी महिमा, उसे दूसरे के साथ तुलना की जा सके, ऐसी नहीं है। कहो, समझ में आया?

दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। स्वभाव सहज शक्ति में से परिणति प्रगट की है। अर्थात् पर के आश्रय से नहीं कि जो परिणति अब चली जाये। **सरोवर को छोटा कह देनेमात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है; इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है।** उसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसा कुछ शुभभाव किये और बड़ा स्वर्ग मिला और ऐसा मिला, इससे उसकी महिमा नहीं है। यह इन्द्रपद मिला और इससे यह पद मिला और इससे यह (मिला), हजारों-लाखों मनुष्य खम्मा... खम्मा... करे, उसके कारण प्रभु! तेरी महिमा नहीं है। तेरी महिमा तो निर्मल शुद्ध चैतन्य! एक अंश जहाँ प्रगट करे, वहाँ इन्द्र के सुख तुच्छ जैसे लगे। ऐसी महिमा प्रभु चैतन्य! तेरे अंश की परिणति में है। उसे दूसरे के साथ मिलान नहीं किया जा सकता। समझ में आया? यह ग्यारहवीं कही।

काव्य १२

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जग जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नोका-नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥

अन्वयार्थ — (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव! (जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मों की स्थिति को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मों की स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेक-भूमिम्) अनेक जगह ले जाती है, लेकिन (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्र में (नौनाविकयोः इव) नाव

और खेवटिया की तरह (तयोः) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है।

भावार्थ — सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक वे फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव, कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि कर्म भी जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं। हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है॥ १२॥

काव्य - १२ पर प्रवचन

बारहवीं।

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जग जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नोका-नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥

देखो! इसमें हिन्दी आता है थोड़ा-थोड़ा भाई! इस स्तुति में। वह यह कितने ही नहीं समझते।

हे जिनेन्द्र! पाठ में जिनेन्द्र (शब्द) पड़ा है न, वहाँ से उठाया है। परन्तु शुरुआत

अन्वयार्थ में ऐसे की है कि **जीव कर्मों की स्थिति को अनेक जगह ले जाता है....** निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं। वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध प्रभु आपके स्वभाव में नहीं है। चैतन्य महाप्रभु में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कैसा? सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में से निमित्त-निमित्त सम्बन्ध उड़ जाती है। समझ में आया? चैतन्य भगवान की जहाँ शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई, उसे यह विकार का निमित्त यह और निमित्त में नैमित्तिक यह, वह दृष्टि चैतन्यप्रभु की होने पर उड़ जाता है। परन्तु अनादि काल की इस पर्यायदृष्टि में **कर्मों की स्थिति को अनेक जगह ले जाता है....** कौन? जीव। कर्म की स्थिति जो बाँधी है न? उसके कारण से कर्म को भी साथ में निमित्तरूप से ले जाता है। **अनेक जगह ले जाता है और वह कर्मों की स्थिति उस जीव को अनेक जगह ले जाती है,....** वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध उसका है, इस जाति का। **उस जीव को अनेक जगह ले जाती है,....**

इस तरह हे जिनेन्द्रदेव! आपने संसाररूप समुद्र में नाव और खेवटिया की तरह उन दोनों में.... नाव और खेवटिया। यह नाव ले जाये खेवटिया को और खेवटिया ले जाये नाव को। क्या कहा? खेवटिया क्या? उसमें बैठनेवाला। बैठनेवाला ले जाये नाव को। हाँकता है न ऐसे खलासी बड़ा। उस खलासी को ले जाती है नाव और नाव को ले जाता है खलासी। इसी प्रकार भगवान कर्म की स्थिति को निमित्तरूप से जीव होता है और जीव के विकार में निमित्तरूप कर्म होता है। ऐसा खलासी और दोनों पारस्परिक जैसे जाते हैं वैसे दो के समूह में उस जाति का प्रवाह बहता है।

नाव और खेवटिया की तरह उन दोनों में निश्चय से एक दूसरे का नेतृत्व कहा है। एक-दूसरे का स्वामीपना व्यवहार से कहा जाता है। हे चैतन्य भगवान! आप दोनों के स्वामी नहीं। आप तो दोनों के ज्ञाता-दृष्टा हो। यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी इन दोनों के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कोई किसी को ले जाये, ऐसा कुछ है नहीं। दृष्टान्त एक दिया है न? उसमें दिया है या नहीं? यह चक्की चलती है न चक्की? मक्खी तो बैठी है वहाँ की वहीं। चक्की के ऊपर बैठी हो न मक्खी? पाट चले तो मक्खी तो वहाँ की वहाँ बैठी है। उसी प्रकार ज्ञायकस्वरूप चैतन्य प्रभु आत्मा, चाहे जितने विकल्प की गति

उसे हो, भगवान चैतन्य ज्योति तो ऐसा का ऐसा बैठा है। समझ में आया? यह दिया है उसमें, किसमें? धर्मदास (क्षुल्लक)। सम्यग्ज्ञानदीपिका, सम्यग्ज्ञानदीपिका में दिया है। प्रभु! मक्खी तो वहाँ की वहाँ बैठी है, हों! वह पाट चले, इसलिए चलती है, ऐसा दिखता है। इतना निश्चय बतलाना है न? उसी प्रकार चैतन्य ज्ञायक ज्योति प्रभु जो स्वभाव से है, वह स्वभाव से है। उस पर्याय में राग और निमित्त के कारण गतिपना दिखता है। वस्तु के स्वरूप में वह गति और राग-द्वेष आदि है नहीं। वह तो प्रभु मक्खी की भाँति जहाँ बैठा हो, वहाँ ही बैठा है।

भावार्थ :- सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है,.... निमित्तरूप से। **वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक वे फल देकर खिर नहीं जाते।** निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है न? **इस बीच में जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है।** यह लकड़ी। यदि इसमें न समझे न तो इसमें विपरीतता घुस जाए ऐसा है। आता है न यह समयसार में? जयसेनाचार्य ने नहीं कहा? कर्म बलवान, कर्म का जोर। है बहुत जगह दो-चार-पाँच में। कर्म का जोर। देखो, इसमें लिखा। उसका एकान्त करते हैं, ऐसा कहते हैं, भाई! ऐसा लिखते हैं और उसका अर्थ एकान्त करते हैं। अरे! सुन न अब। कर्म का जोर तो भावकर्म का पर्याय में जोर है, इसलिए निमित्त में है, ऐसा ईश्वरनय से स्वयं आरोप करके कहते हैं। जोर कैसा आत्मा में? समझ में आया? अपनी विकार की वृत्ति का जोर है। स्वभाव में है नहीं। इसलिए निमित्त में आरोप करके, पराधीन होकर ईश्वरनय से तू तेरे कारण जोर है, ऐसा ज्ञानी ज्ञान में जानने के लिये वर्णन करते हैं। समझ में आया? मेरे चैतन्य में विकार का जोर होगा? तीन काल में होगा? वहाँ तो विकार का अभाव करने का अन्दर जोर पड़ा है। फब्बारा फूटा शीतलता का। वहाँ तो चैतन्य की शीतलता पड़ी है। शान्तरस से स्थित भगवान।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्यो आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नाहिं नाहिं भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है। (समयसार नाटक - ५०)

हमारे यहाँ विकार कैसा और निमित्त कैसा? यहाँ दोनों तीन काल में हमारे पदार्थ में है ही नहीं, ऐसा जिनेन्द्रदेव को प्रगट हुई दशा पहिचानकर अपनी दृष्टि से अपने चैतन्य के गुणग्राम करता है।

जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव, कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। अर्थात् निमित्त है, ऐसा। **इसलिए कहा गया है कि कर्म भी जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं।** आत्मद्रव्यस्वभाव नहीं। आत्मस्वभाव में कोई गड़बड़ी होती नहीं। ज्ञाता-दृष्टा भगवान चैतन्यबिम्ब, उसमें कहीं गड़बड़-फड़बड़ है नहीं। जाना या आना, बाँधना या छोड़ना, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है। एक-दूसरा का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। अपनी-अपनी गति से स्वयं काम कर रहे हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार, हे नाथ! यह व्यवहार आपके नहीं है। आप तो इन तीन काल-तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा से जान रहे हो। मुझमें यह वास्तव में प्रभु! निमित्त-निमित्त का सम्बन्ध मेरी चैतन्यदृष्टि में नहीं है। मेरा चैतन्यस्वभाव ज्ञायक भगवान (उसे) पर के साथ सम्बन्ध कैसा? विकार के साथ सम्बन्ध कैसा आत्मा को? और निमित्त के साथ सम्बन्ध तो है ही नहीं। विकार परद्रव्य और निमित्त तो अत्यन्त पृथक् द्रव्य। उससे अभावस्वभाववाला मेरा आत्मा, यह उसकी स्तुति और भक्ति मैं करता हूँ। १२।

काव्य १३

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥

गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशु-वधादि को कह निर्दोष॥
सुखहित निज-तन को देते हैं, गिरि-पातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! जिस प्रकार (बालाः) बालक, (तैलाय) तेल के लिए (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिए (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुण के लिए (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिए (पापानि) पापों को (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता; इसलिए वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं।

वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्तकर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेशकर दुःख उठाते हैं, पर सकाम- तपस्या का कोई फल नहीं होता; इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हम में शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो' — ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं, पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है।

इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं, जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियाएँ उन बालकों जैसी हैं, जो तेल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।

काव्य - १३ पर प्रवचन

१३ (श्लोक)।

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥

गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशु-वधादि को कह निर्दोष॥
सुखहित निज-तन को देते हैं, गिरि-पातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल॥

इसका अर्थ उसमें—भावार्थ में आयेगा। इसमें तो इतना है।

अन्वयार्थ :- हे प्रभु! जिस प्रकार बालक, तेल के लिए बालू के समूह को पेलते हैं,.... ओहोहो! बालक को खबर नहीं कि बालू में तेल होता है। रामचन्द्रजी में आता है न? छह-छह महीने तक लक्ष्मण को उठाकर निकलते हैं। सम्यग्दृष्टि है, हों! अन्दर में विवेकी है। अस्थिरता के राग के .... परद्रव्य कुछ दूसरा ही काम कर रहा है। स्वभाव स्वभाव का काम करता है। छह महीने तक। देव आकर बालू की घाणी लगाता है। बालू डाले तेल निकलता नहीं। तब रामचन्द्रजी कहते हैं ऐ, परन्तु यह तू भूला है। बालू में तेल नहीं निकलता। (देव कहता है) तब तुम यह क्या करते हो? यह मर गया और जीवित होगा अब? यह मर गया वह जीवित होगा? कभी नहीं। अग्नि में कमल बोने गया। अग्नि-अग्नि करके। मूर्ख! अग्नि में कमल नहीं बोया जाता। नहीं उगता। परन्तु तब तुम यह क्या करते हो? समझ में आया? ऐसे दो-तीन दृष्टान्त किये। फिर उसके ख्याल में आया। ओहो! मेरी राग की भूल थी। राग की मेरी भूल थी। दाह संस्कार किया। दाह संस्कार कर दिया।

तेल के लिये बालू पेले। उसी प्रकार भगवान! आपकी दृष्टि के भान बिना इस

शुभ के काम में बालू है। उसमें तेल नहीं निकलता। समझ में आया? इस बालू को पेलकर-राग की क्रिया, पुण्य की क्रिया, विभाव की क्रिया, स्वभाव से विरुद्ध भाव का आचरण। उसे पेल-पेलकर आत्मा का तेल निकालना चाहता है। सेठी! विरुद्ध आचरण करता है। प्रभु! तेरी आज्ञा से। चैतन्य को कहते हैं कि तेरे स्वभाव से विभाव के आचरण करके स्वभाव को प्रगट करना चाहता है, वह बालू पेलकर तेल निकालना चाहता है।

बालक, जैसे तेल के लिए बालू के समूह को पेलते हैं, ठीक उसी प्रकार आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष.... आपके प्रतिकूल, आज्ञा से प्रतिकूल, चैतन्यस्वभाव से प्रतिकूल। **सुख के लिए दुःखों को,....** यह वृत्ति है कि मानो सुख की प्राप्ति होगी। राग की प्राप्ति से मानो आत्मा का आनन्द प्राप्त होगा। आपकी आज्ञा से विरुद्ध और आपके मार्ग से विरुद्ध और आत्मा से विरुद्ध। **सुख के लिए दुःखों को, गुण के लिए दोषों को....** शान्ति के लिये राग को सेवन कर शान्ति मिलेगी, प्रभु! यह आपकी आज्ञा नहीं है। आप देव ने यह दिव्य का वर्णन ऐसा नहीं किया है।

और धर्म के लिए पापों को समाचरित करते हैं। लो! पाप का आचरण करे धर्म के लिये। अशुभ से भले बात की। परन्तु वह पाप ही है। पुण्य और पाप वास्तव में निश्चय से आत्मा की शान्ति के घातक, यह उसका पापाचरण करके आत्मा का सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्राप्ति हो, प्रभु! वह तेरे तत्त्व में यह है नहीं। सहज स्वरूप सहज से प्राप्त हो, इसके अतिरिक्त प्राप्त होगा नहीं। देखो, यह.... आता है न उसमें—परमात्मप्रकाश में? नहीं आता? वस्तु स्तवन। भाई! एक आता है। वस्तु स्तवन। रामचन्द्रजी आदि धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में वस्तु स्तवन करते थे। भगवान का स्तवन करते और वस्तु का स्तवन करते थे। टीका में ऐसा पाठ है। नेमिदासभाई! किसका गाना? आहाहा! वस्तु का। भले विकल्प से हो। परन्तु वस्तु यह है.... वस्तु यह है। पूर्णानन्द चैतन्य आनन्दघन! ऐसे वस्तु में बसी हुई पवित्रता का पिण्ड! यह उसके गीत प्रभु रामचन्द्रजी आदि श्रावक धर्मात्मा भी गाते थे। उस विकल्प से उन्हें पुण्यानुबन्धी पुण्यबन्ध हो जाता है। परन्तु उस भव में उन्हें छूट जायेगा। पूर्ण शुद्ध चैतन्य पर अनुभव की दृष्टि होने से राग का

आदर नहीं है। वे वस्तु के स्वरूप के गीत गाते हैं। गीत गाते हैं अर्थात् एकाग्र होते-होते, विकल्प से गीत गाये, यह व्यवहार हुआ, निश्चय से एकाग्रता वह गुण के गीत। उस गुण के गीत से केवलज्ञान प्राप्त होगा। समझ में आया? **समाचरित करते हैं।**

भावार्थ :- हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते,.... आपका शासन वीतराग शासन। वीतरागी शिक्षा। अरागी ज्ञान की धारा। ऐसे में **नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता;....** उसे धर्म के तत्त्व जो जड़-चैतन्य, संवर-निर्जरा का भान नहीं होता। देखो! इस प्रकार भी भगवान की स्तुति करके चैतन्य की स्तुति करते हैं। **इसलिए वे अज्ञानियों की तरह...** अज्ञानियों की तरह **उल्टे आचरण करते हैं।** उल्टे आचरण करते हैं, कहाँ मार्ग और कहाँ वस्तु का स्वभाव और उससे उल्टे चलते हैं।

वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्तकर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेशकर दुःख उठाते हैं,.... देखो! सब कायक्लेश है आत्मा के भान बिना के। कायक्लेश है या नहीं यह? कहा है या नहीं दीपचन्दजी ने? यह जंगल में ढोर बसे और आत्मा के ज्ञान के भान बिना के और अनुभव बिना के, वे तप में पड़े, वह ढोर जैसे हैं। समझ में आया? वह मोह का भजन करते हैं, प्रभु! आप वीतरागस्वभाव का भजन करता नहीं। मोह को भजता है, माला के दाने फिरते हैं अन्दर। आ हो... आ हो.... आ हो....

पर सकाम- तपस्या का कोई फल नहीं होता;.... यहाँ सकाम लेनी है न इच्छा। इच्छा से कुछ, राग से कुछ मिलेगा। **इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हम में शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो'....** ऐसा विचार कर **ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी,....** वह रति-लम्पटी, विषय में लम्पट, **क्रोधी....** राग और द्वेष दोनों हो गये। **आदि देवों की उपासना करते हैं,....** राग और द्वेष जिसमें मिले हों, ऐसे देव की सेवा करते हैं। परन्तु वीतराग प्रभु आपकी सेवा नहीं कर सकते।

पर उन देवों की शीलघातक.... वे देव स्वयं शीलघातक **और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है,....** असर अर्थात् जिसमें विकारयुक्तपना उसके गुणग्राम

गाये तो उसे विकार के भाव का ही अनुमोदन है। समझ में आया? विकारसहित है, दोषसहित है, उसकी प्रशंसा करता है, इसका अर्थ यह हुआ कि दोष की प्रशंसा करता है। ईश्वर ऐसे कर्ता थे, उसने ऐसा किया, उसने ऐसे किया। यह ऐसे की स्तुति करनेवाला क्रोध और शीलघातक भाव की प्रशंसा करता है। इसका **बुरा असर पड़ता है,....** का अर्थ यह। उसके भाव में बुरा भाव आता है।

जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर.... उसके कारण से गुण का विकास होता नहीं। **दोषों का ही विकास हो जाता है।** क्योंकि दोषवान की प्रशंसा से दोष का ही विकास (होता है), टिके और स्थिर हो और बढ़े तथा पुष्टि हो। **इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं,....** यज्ञ आदि करते हैं न? यह व्यवहार से बात.... लेना। **जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियाएँ उन बालकों जैसी हैं,....** समझ में आया? यह अज्ञानी बालक जैसी है। **जो तेल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।** लो! मशीन में पेल-पेलकर तेल निकालना चाहता है और फिर, तेल में ढ़ेबरा तलना चाहता है। तेल नहीं निकले, वहाँ ढ़ेबरा कहाँ से तलते थे।

इसी प्रकार हे भगवान! आपकी वीतरागी आज्ञा चैतन्य शुद्ध को आराधना, शुद्ध की सेवा करना, शुद्ध में रमना, शुद्ध को अन्दर से एकाकार को प्रगट करना। यह उसकी दृष्टि की खबर नहीं होती और यह विकार के क्रियाकाण्ड को पेल-पेलकर आत्मा प्रगट करना चाहता है, प्रभु! वे जीव मूढ़ है। समझ में आया? वह आपके भगत नहीं हैं। वे चेतन के भगत नहीं हैं। इसलिए व्यवहार से आपके भी भगत नहीं हैं। १३ हुई।

काव्य १४

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

विषहारक मणि नाथ तुम्ही हो, तुम ही हो परमौषधि रूप।
तुम ही मन्त्र रसायन भी तुम, तुम ही यन्त्र तन्त्र गुण भूप॥
तुम्हें छोड़कर इन्हें ढूंढते, फिरें वृथा गोते खाते।
नाम तुम्हारे मणि-मन्त्रादिक, अविवेकी समझ नहीं पाते॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विष को दूर करनेवाले (मणिम्) मणि को, (औषधानि) औषधियों को, (मन्त्रम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उद्देश्य करके (भ्राम्यन्ति) यहाँ-वहाँ घूमते हैं किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं और रसायन हैं (इति) — ऐसा (स्मरन्ति) स्मरण नहीं करते क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है॥ १४॥

कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता कविवर धनञ्जय मन्दिर में बैठकर स्तुति पाठ की रचना कर रहे थे; उसी समय उनके पुत्र को सर्प ने डस लिया, तब उनकी पत्नि ने उन्हें मन्दिर से बुलवाया परन्तु वे पूजन-स्तवन छोड़कर नहीं आये तो उनकी पत्नि को अत्यन्त क्रोध आया और क्रोधावेश में वह पुत्र को मन्दिर में डालकर जाने लगी, उसी समय सहज ही कवि ने 'विषापहारं मणिमौषधानि ....आदि' श्लोक की रचना की तो तत्काल उनका पुत्र पुण्य-योग से एवं जिनेन्द्रभक्ति के प्रभाव से उठकर बैठ गया और उसका विष-विकार बिलकुल दूर हो गया।

इस श्लोक में विषापहार शब्द का प्रयोग हुआ है - यही कारण है कि इस स्तोत्र का नाम विषापहार स्तोत्र प्रचलित हुआ।

काव्य - १४ पर प्रवचन

१४वीं। अब विषापहार शब्द आया इसमें।

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

विषहारक मणि नाथ तुम्ही हो, तुम ही हो परमौषधि रूप।
तुम ही मन्त्र रसायन भी तुम, तुम ही यन्त्र तन्त्र गुण भूप॥
तुम्हें छोड़कर इन्हें ढूंढते, फिरें वृथा गोते खाते।
नाम तुम्हारे मणि-मन्त्रादिक, अविवेकी समझ नहीं पाते॥

लो! इसमें नाम आया विषापहार। है न? जो इस स्तोत्र का नाम है न, उसमें यह आया। वहाँ वह लड़का बैठा था, ऐसा कहते हैं। जहाँ यह १४वीं गाथा चली.... उस लड़के को सर्प काटा था। उसके (धनंजय के) पुत्र को। भगवान के निकट मन्दिर में लाकर डाल दिया। और स्तुति चली अपने ध्यान से। यहाँ जागृत जहाँ हुआ और परिणाम हुए वह बैठा हो गया। देखो! यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध।

भक्तामर में भी आता है या नहीं? हे प्रभु! आपकी भक्ति करनेवाले ऐसे हाथी जहाँ ऐसे लाखों मर गये हों और जहाँ मोती मुक्ताफल निकले हों, उसमें भी आपका भगत जीतकर निकलता है। अन्दर में भी जीतकर निकलता है और बाहर में ऐसा उसके पुण्य का योग मेल खा जाता है। उसे युद्ध-बुद्ध में कोई बाधक नहीं। सिंह दो पैर के मध्य में आ गया हो। भक्तामर में है, है न? उस क्रम का विवाद है वह। क्रम-क्रम। सिंह के दो पैर के मध्य में आया हुआ भी हिरण या मनुष्य, प्रभु! यदि आपकी भक्ति करता हो तो एकदम छूटता है। जिस प्रकार धाणी में से दाना छूटकर एकदम आगे चला जाये (उसी प्रकार) उसके—सिंह के पंजे में से छूट जायेगा। प्रभु! आपकी भक्ति की अचिंत्य कोई महिमा है! समझ में आया? हीराभाई! यह पुण्य उस जाति का हो जाता

है और उस प्रकार का योग होता है। वह अन्दर नहीं होता, यह परमार्थ से अन्दर की पवित्रता प्रगट होती है। उसकी बातें यहाँ गीत गाया जाता है। भक्तामर में तो बहुत लिया है। हाथी, सिंह और बड़ा दावानल सुलगता हो, जलन्धर रोग हो। सब प्रभु! आपकी भक्ति जलन्धर रोग तो यह पेट फटकर जो राग-द्वेष में गया, वह जलन्धर रोग है। इस चैतन्य के स्वभाव के भान द्वारा उस जलन्धर रोग का नाश होता है। और पुण्य का योग हो तो बाहर का भी नाश होता है। सर्प का। इसमें सब बहुत हैं।

आश्चर्य है कि लोग विष को दूर करनेवाले मणि को,.... विष को नाश करनेवाला मणि। मणि। यह मणि ऐसा कि विष को नाश करनेवाला है। आता है न? औषधा। यह दूसरा। **करनेवाले मणि को, औषधियों को,....** रखते हैं न, यह नहीं सर्पवाले? क्या कहलाती है वह? नेवला। सर्प काटा हो तो वह नेवला होता है ऐसा। उसे लोग खोजते हैं, कहते हैं न सर्प का जहर उतारने के लिये। या औषधि को, या मन्त्र को। मन्त्र होता है न सर्प का और अमुक का? **रसायन को....** रसायन को। और **उद्देश्य करके यहाँ-वहाँ घूमते हैं....** अरे! कल्पवृक्ष को खोजते हैं। कल्पवृक्ष पेड़ कहीं है? अरे! कामधेनु गाय कहीं है? उसे खोजते हैं, प्रभु! वन-वन में भटकता अनादि का।

उद्देश्य करके यहाँ-वहाँ घूमते हैं.... '**भ्राम्यन्ति**' है न? **आप ही मणि हैं,....** प्रभु! आपका नाम ही मणि है। जहर को उतारने के लिये मणि आप ही हो प्रभु! समझ में आया? वीतराग को कहते हैं और आत्मा को कहते हैं, चैतन्यमणि तू ही है। वह अपरनाम है, कहा न उसमें? पर्यायवाची अर्थात् दूसरे-दूसरे वे तेरे ही नाम हैं। चैतन्यप्रभु! वह तेरे ही नाम दूसरे प्रकार के सब यह पड़े हैं। समझ में आया? भगवान की भक्ति में भगवान को भी ऐसा कहते हैं और अपने आत्मा को भी कहते हैं कि तेरे नाम में, तेरा नाम ही मणि है, अन्य मणि नहीं। तू ही मणि है।

आप ही औषधि हैं,.... औषध विचार ध्यान। आता है न? यह विचार। आप ही औषधि हो। पूर्णानन्द प्रभु, आपकी प्रगट दशा वह जिसकी सत्ता में बैठी, जिसके अस्तित्व में बैठी, ऐसा औषध लागू पड़ा कि जन्म-मरण का रोग उसे गया। वह उसकी गाँठ गल गयी जन्म-मरण की। उसे प्रभु! अब रोग रहेगा नहीं और बाहर में भी पुण्य

का उदय हो तो ऐसा प्रसंग बन जाता है। **मन्त्र हैं और रसायन हैं....** रसायन है न? सिद्धरस कहते हैं न? क्या कहते हैं? अन्दर डाला है न यह शब्द कुछ। रसायन अर्थात् सिद्धरस। रस सिद्ध हो गया ऐसा। रसायन अर्थात् रस सिद्ध हो गया हुआ। सिद्ध हो गया हुआ अर्थात् ऐसे पानी हो और मन्त्र कर ऐसा रस सिद्ध हो गया कि जहाँ पत्थर के ऊपर डाले वहाँ सोना होता है। आता है न? किसमें? आत्मावलोकन, क्या कहलाता है? तुम्बीरस। एक व्यक्ति ने तुम्बीरस प्रगट किया उसके भाई ने। ले गया उसके घर में, साहेब रखो यह तुम्बीरस। एकदम गिरा दिया। अब तेरा तुम्बीरस, चैतन्यरस यहाँ है न। उसके लिये तूने राज छोड़ा था? दीक्षा इसके लिये ली थी? कहाँ भ्रमित हो गया इसमें? परन्तु कहे, बड़ा बहुत वर्ष की बहुत मेहनत करके यह तुम्बीरस प्रगट हुआ है। यह सिद्धरस है। सिद्धरस... सिद्धरस। निश्चित हो गया। फूट गया। हाय-हाय! यह तुमने क्या किया? हाय बड़ी पत्थर की शिला पर पेशाब किया, वहाँ एकदम सोना हो गया। अब सुन न! तेरे रसायन और ऐसे ऊपर में वन में भटका। चैतन्य भगवान अन्तर विराजमान परमात्मा परम पुरुषोत्तम पुराण पुरुष। समझ में आया? पुराण पुरुष। अनादि का पुरुष आत्मा है। उसके समीप में जा। तेरे जन्म-मरण का नाश करके। सोने को जंग नहीं लगती, ऐसा भगवान बना देगा। ऐसे सब.... तू त्यागी हुआ और साधु हुआ? वनस्पतियाँ खोजी और उसमें सिद्धरस प्रगट किया। धूल की तूने प्रगट करके। समझ में आया? इसके लिये मुंडाया है? आहाहा!

इसी प्रकार जगत के प्राणी... इच्छा से कुछ मिलेगा और ऐसा करूँगा, पुण्य होगा तो स्वर्ग में जाऊँगा और यह मिलेगी। अब इसके लिये मुँडाया? आत्मा का धर्म करने इसके लिये प्रयत्न किया? वह तो आत्मा के समीप में जाने से सहज ऐसे पुण्य बँध जाये, सहज ऐसे संयोग हो जाये। यह इच्छा नहीं हो सकती। कहते हैं कि प्रभु! आपका नाम मणि, आपका नाम औषधि, आपका नाम मन्त्र, आपका नाम रसायन, आप कल्पवृक्ष, आप कामधेनु। जो कहो, वह आप सब हो।

ऐसा स्मरण नहीं करते क्योंकि वे मणि आदि आपके ही पर्यायवाची शब्द हैं। अन्य-अन्य नाम आपके ही, प्रभु यह है। समझ में आया? यह अलग-अलग नाम यह

सब तेरे हैं। जगत में नाम कहते हैं दूसरे के, वह बात खोटी है।

भावार्थ :- हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं,.... शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है। कहा जाता है कि एक समय.... इसमें डाला इन्होंने। **स्तोत्र के रचयिता धनञ्जय....** कवि। धनंजय कवि। जिसका धन है और जिसे जय है जिसकी। समझ में आया? ऐसे धनंजय कवि के **पुत्र को सर्प ने डस लिया,....** उसको सर्प ने डस लिया। **तब वे अन्य उपचार न कर....** दूसरे उपचार नहीं करके **उसे सीधे ही जिनमन्दिर में ले गये....** बहुत बात में अलग-अलग आता है। कोई कहे वहाँ ले गये। कोई कहे, स्त्री (वहाँ) डाल गयी। ऐसा आता होगा। **और वहाँ विषापहार स्तोत्र रचकर भगवान के सामने पढ़ने लगे....** समझ में आया? एक को सर्प डसा था। परन्तु साधारण होगा। फिर आकर कुछ उपाय नहीं किया और आकर भाई बैठा प्रोषध करके। चढ़ा नहीं। इसलिए लोगों को (ऐसा कि) ओहोहो! परन्तु सहज सर्प भी साधारण होगा न? इसलिए वहाँ जाकर णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं.... चढ़ा नहीं। ओहोहो! कहाँ गये छोटाभाई नहीं आये? नहीं आते होंगे। उन्हें भी सर्प डसा था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हीराजी महाराज। णमोकार गिनो भाई, णमोकार गिनो। ऐसा कहा। क्या कहा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परिबल है। णमोकार अर्थात् आत्मा का स्वभाव! णमोकार अर्थात् णमो अरिहंताणं.... 'अरिहंत' अर्थात् विकार के शत्रुरूप भाव को घात करनेवाला ऐसा चैतन्यप्रभु, वह साक्षात् स्वयं अरिहन्त है। 'सिद्धाणं'। सिद्ध स्वभाव जिसने साधा है, वह साधनेवाला स्वयं ही साधु है। कहा है न उसमें एक बार नहीं? परमात्मपुराण में लिया है, भाई! एक-एक गुण को, एक-एक गुण को व्यापारी, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय घटित किया है। एक-एक गुण को। एक-एक गुण स्वयं क्षत्रिय है। अपने शूरवीरतारूप से अपना काम कर रहा है। दूसरे की सहायता नहीं। प्रभु! एक गुण ही स्वयं... उस गुण

का व्यापार स्वयं स्वतन्त्र कर रहा है, इसलिए उसे व्यापारी कहा। उसकी परिणति का स्वयं परिणति करके स्वयं की सेवा कर रहा है, इसलिए उसे शूद्र कहने में आता है। 'ब्रह्मानन्द ऐसा आत्मा' ब्रह्म आनन्द को लपेटकर पड़ा है, इसलिए गुण को ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण कहने में आता है। ओहोहो! एक-एक परमात्मपुराण है वह। वह दीपचन्दजी ने बनाया है। परमात्मपुराण। उसमें प्रत्येक गुण को चार-चार बोल उतारे हैं। प्रत्येक गुण को। तुम्हारे उस व्यापार में से निकालकर इस व्यापार में जोड़ दिये हैं। धूल का व्यापार करता नहीं, व्यर्थ में उसमें हैरान होकर चला। दुःखी होता है दुःखी.... दुःखी.... यह व्यापार। ओहोहो! प्रभु! तेरे एक-एक गुण का व्यापार। तू बनिया बहुत। बनिया, हों! देख-देखकर काम लेनेवाला। इस ज्ञान में, दर्शन में, आनन्द में, वीर्य में, शान्ति में, अगुरुलघु में एक-एक शक्ति को वैश्यरूप से वर्णन किया, ब्राह्मणरूप से, क्षत्रियरूप से और शूद्ररूप से वर्णन किया है।

इन्हें ऐसा जोर करते हुए अन्दर का। **वहीं जहाँ 'विषापहारं मणिमौषधानि ....आदि' श्लोक को पूरा करते हैं। 'विषापहारं मणिमौषधानि....' त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है।** इसी प्रकार आत्मा में सावधानरूप से जहाँ एकाग्र होता है, वहाँ एकदम जागृत होकर आत्मा पुराण पुरुष मैं हूँ, ऐसा जागृत होकर आत्मा स्वयं बोल उठता है। **त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है। इसका विष विकार बिल्कुल दूर हो गया। कवि ने स्तोत्र को पूरा किया। इसके पाठ से विषविकार दूर हुआ था। इसलिए उसका नाम विषापहार स्तोत्र प्रचलित किया।** इस नाम से प्रचलित हो गया। चौदहवाँ श्लोक बोलते थे, वहाँ ऐसा हो गया। उसमें आता है न भक्तामर में। अमुक जहाँ स्तवन करते... करते... ताले टूटे एकदम-एकदम। अन्दर के ताले टूटे और बाहर के ताले टूटे। अन्दर में शान्ति.... शान्ति.... शान्ति.... शान्ति.... हो गयी अन्दर। और बाहर में ताले (टूटे)। पुण्य का योग और एकदम टूट गये अन्दर से। ऐसा कोई भगवान का परमात्मा! त्रिलोकनाथ भगवान, जिनकी इन्द्र सेवा करते हैं। हे दक्षिण के स्वामी! और उत्तर के स्वामी! ईशान इन्द्र। दक्षिण का स्वामी शकेन्द्र। वह भी जिनके निकट मुकुट झुकाकर दासानुदास होकर सेवा करता है। ऐसे परमात्मा की भक्ति के करनेवाले को अन्तर की परिणति तो शुद्ध होती है, स्वयं के साधन से। परन्तु उसे बाहर में संयोग अनुकूल सहज

मिल जाते हैं। जहर उतरे क्या ? पूरा जहर चढ़कर ऐसे मानो मर गया हो, ऐसा लगता हो। एकदम जगे। यह अनादि का मर गया है न विकल्प को अपना स्वरूप मानकर। पर को अपना माना, वह तेरा बड़ा मुर्दा तूने कर डाला। वह जहाँ अन्तर चैतन्य की जागृति और श्रद्धा-ज्ञान किये, वह चैतन्य जागृत होकर खड़ा हो गया। यह उसका नाम विषापहार स्तोत्र कहा जाता है। यह १४ गाथा हुई। १५वीं कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)